[1990] 3 उम० नि० प० 220

एस० एस० राठौर

बनाम

मध्य प्रदेश राज्य

6 सितंबर, 1989

मु० न्या० ई० एस० वेंकटरामय्या, न्या० सव्यसाची मुखर्जी, रंगनाथ मिश्र, जी० एल० ओझा, बी० सी० राय, के० एन० सिंह और एस० नटराजन्

परिसीमा अधिनियम, 1963 (1963 का 36)—अनुच्छेद 58 और प्रथम अनुसूची [सहपठित प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम, 1985 की धारा 20 (2) और 21 और सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 80]—खारिजी के विरुद्ध वाद—वाद-हेतुक का प्रोद्भवन—वाद-हेतुक सर्वप्रथम उस समय उद्भूत होता है जब शिकायत दूर कराने से संबंधित सुसंगत सेवा-नियमों के अधीन लोक सेवक को उपलब्ध उपचारों का निपटारा हो जाता है—स्थापन अध्यक्ष को स्मरण पत्र या अभ्यावेदन मात्र पर, परिसीमा नियत करने के मामले में, ध्यान नहीं दिया जाएगा।

परिसीमा अधिनियम, 1963 (1963 का 36)—अनुच्छेद 59—खारिजी के विरुद्ध वाद—परिसीमा—खारिजी का आदेश अपील या पुनरीक्षण पर उच्चतर प्राधिकारियों के आदेश में विलीन हो जाता है।

1989(9) eILR(PAT) SC 1

विशेष इजाजत द्वारा यह अपील मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध फाइल की गई है, जिसके द्वारा उच्च न्यायालय ने परिसीमा के अभिवाक् पर वादी के वाद की खारिजी की, द्वितीय अपील में, पुष्टि की है। इस अपील में यह प्रश्न उद्भूत हुआ है कि वाद-हेतुक कब प्रोद्भूत होता है और क्या खारिजी का आदेश अपील या पुनरीक्षण पर उच्चतर प्राधिकारियों के आदेश में विलीन हो जाता है। अपील मंजूर करते हुए और मामला प्रतिप्रेषित करते हुए,

अभिनिर्धारित—मोहम्मद नूह वाले मामले में न्यायालय और अधिकरण, जो अपील या पुनरीक्षण प्राधिकरण है, के बीच अपनाया गया अंतर किसी विधिक औचित्य के बिना है। न्यायनिर्णयन की शक्तियां, जो समान्यतया न्यायालयों में निहित हैं विधि के अधीन अधिकरणों और अन्य गठित प्राधिकरणों द्वारा प्रयुक्त की जा रही हैं। वस्तुतः, अनेक विवादों की बाबत अब न्यायालय की अधिकारिता वर्जित है और अधिकरणों तथा प्राधिकरणों में अधिकारिता निहित की गई है। ऐसी स्थिति में, विलय के सिद्धांत के संबंध में न्यायालयों और अधिकरणों के बीच अंतर के लिए कोई औचित्य नहीं है। नजीरों के आधार पर यह अभिनिर्धारित किया ही जाना चाहिए कि कलक्टर द्वारा किया गया पदच्युति का आदेश प्रभागीय आयुक्त के आदेश में विलीन हो गया, जब अपीलार्थी की अपील तारीख 21 अगस्त, 1966 को खारिज कर दी गई। इस पृष्ठभूमि में, यदि दंड के मूल आदेश (की तारीख) को ऐसी तारीख के रूप में माना जाता है, जब परिसीमा अधिनियम के अनुच्छेद 58 के प्रयोजन के लिए वाद-हेतुक सर्वप्रथम प्रोद्भूत होता है, तो उसके परिणामस्वरूप बहुत अधिक कठिनाई होगी। एक ओर, दावा चलने योग्य नहीं होगा, यदि वह उपचारों के विशेषण (समापन) से पूर्व ही किया जाता है; दूसरी ओर, यदि विभागीय उपचार को, यद्यपि उसका उपयोग किया जाता है, परिसीमा की अवधि के भीतर अंतिम रूप नहीं दिया जाता है, तो वाद-हेतुक परिसीमा द्वारा वर्जित हो जाने के कारण न्याय्य नहीं होगा। विभागीय प्राधिकारियों के हाथों शिकायतें दूर कराने में अनुचित रूप से लंबा समय लगता है। ऐसा इस कारण होता हैं कि इन मामलों पर समान्यतया कोई ध्यान नहीं दिया जाता है और वे सारभूत सरकारी कारबार नहीं माने जाते हैं। इस दृष्टिकोण की निन्दा की जानी चाहिए और ऐसे प्राधिकारियों को, जिनमें सेवा नियमों के अधीन अपीलों और पुनरीक्षणों का निपटारा करने की शक्ति निहित की गई है, इन मामलों का यथाशीघ्र निपटारा करना चाहिए। सामान्यतया 3 से 6 मास की अवधि बाह्य-सीमा होनी चाहिए उससे तंत्र में अनुशासन आएगा और लोक सेवक मुकदमेबाजी की लंबी अवधि से बच सकेगा। न्यायालय का यह समाधान हो गया है कि इस स्थिति से निपटने के लिए, जो यहां उद्भूत हुई है, यह अभिनिर्धारित करना उचित होगा कि वाद-हेतुक सर्वप्रथम तब उद्भूत होता है, जब शिकायत दूर कराने के संबंध में सुसंगत सेवा नियमों के अधीन लोक सेवक को उपलब्ध उपचारों का निपटारा हो जाता है। वाद-हेतुक मूल प्रतिकूल आदेश की तारीख से नहीं, बल्कि उस तारीख से उद्भूत माना जाएगा जब उच्चतर प्राधिकारियों का आदेश किया गया था, जहां अपील या अभ्यावेदन को ग्रहण करने हेतु कानूनी उपचार का उपबंध किया जाता है और जहां ऐसा कोई आदेश नहीं किया जाता है, यद्यपि उपचार का उपयोग कर लिया गया है, अपील करने या अभ्यावेदन करने की तारीख से 6 मास की अवधि ऐसी तारीख मानी जाएगी, जब वाद हेतुक सर्वप्रथम उद्भूत हुआ माना जाएगा,। तथापि कि यह सिद्धांत उस स्थिति में लागू नहीं होगा, जब उस उपचार का,

1989(9) eILR(PAT) SC 1

जिसका उपयोग कर लिया गया है, विधि द्वारा उपबंध नहीं किया गया है। ऐसे बार-बार असफल रहने वाले अभ्यावेदनों को, जिनका विधि द्वारा उपबंध नहीं किया गया है, यह सिद्धांत लागू नहीं होता है। (पैरा 14, 17, 18 और 20).

इस संबंध में प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम की धारा 21 के अधीन परिसीमा से संबंधित उपबंध की अवेक्षा करना उचित होगा। उपधारा (1) द्वारा आवेदन करने के लिए एक वर्ष की अवधि विहित की गई है और 6 मास की कुल अवधि के विलंब को माफ करने की शक्ति उपधारा (3) के अधीन निहित की गई है। अधिनियम द्वारा सिविल न्यायालय की अधिकारिता वापस ले ली गई है और इसलिए जहां तक सरकारी सेवकों का संबंध है, विशेष परिसीमा को देखते हुए, अनुच्छेद 58 का अवलंब नहीं लिया जा सकेगा। तथापि प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम की परिधि से बाहर के वादों को अनुच्छेद 58 लागू होता रहेगा। यह उचित ही है कि ऐसे मामलों में स्थिति एक जैसी होनी चाहिए। अतः ऐसे प्रत्येक मामले में, जब तक कि विधि द्वारा उपबंधित अपील या अभ्यावेदन का निपटारा नहीं किया जाता है, वाद-हेतुक सर्वप्रथम तभी प्रोद्भूत होगा, जब उच्चतर प्राधिकारी अपील या अभ्यावेदन पर अपना आदेश करता है, और जहां ऐसा आदेश नहीं किया जाता है, उस तारीख से 6 मास की समाप्ति पर प्रोद्भूत होगा, जब अपील फाइल की गई थी या अभ्यावेदन किया गया था। (पैरा 21 और 22)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[1986]	1986 सप्ली० एस० सी० सी० 372 : **रघुवीर झा** बनाम **बिहार राज्य और अन्य;**	24
[1969]	1969 (3) एस० सी० आर० 203 : **पीअर्सलेस्ली एंड कंपनी लि०** बनाम **वायलेट ओक्टरलोनी वैपशेयर और अन्य;**	5
[1969]	1969 (3) एस० सी० सी० 384 : **सोमनाथ साहू** बनाम **उड़ीसा राज्य और अन्य;**	13
[1963]	1963 (2) एस० सी० आर० 563 : **सीमा-शुल्क कलक्टर, कलकत्ता** बनाम **ईस्ट इंडिया कमर्शियल कंपनी लि०;**	12
[1962]	1962 सप्ली० 3 एस० सी० आर० 906 : **मदन गोपाल रूंगटा** बनाम **सचिव, उड़ीसा सरकार;**	11
[1959]	1959 एस० सी० आर० 1148 : **सीताराम गोयल** बनाम **नगरपालिक बोर्ड, कानपुर और अन्य;**	3

[1959] 1959 एस० सी० आर० 713 :

आय-कर आयुक्त बनाम **अमृत लाल भागी लाल एंड कंपनी;** 13

[1958] 1958 एस० सी० आर० 595 :

उत्तर प्रदेश राज्य बनाम **मोहम्मद नूह.** 8

सिविल अपीली अधिकारिता : 1984 की सिविल अपील सं० 207.

1981 के प्रकीर्ण सिविल मामला सं० 539 में मध्य. प्रदेश उच्च न्यायालय के तारीख 12 मार्च, 1982 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील।

अपीलार्थी की ओर से श्री रंजीत कुमार और श्री सुभाष शर्मा

प्रत्यर्थी की ओर से श्री पृथ्वीराज और श्री एस० के० अग्निहोत्री

न्यायालय का निर्णय न्या० रंगनाथ मिश्र ने दिया।

न्या० मिश्र—विशेष इजाजत द्वारा यह अपील मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध फाइल की गई है, जिसके द्वारा उच्च न्यायालय ने परिसीमा के अभिवाक् पर वादी के वाद की खारिजी की, द्वितीय अपील में, पुष्टि की है।

2. वादी को, जो मध्य प्रदेश का सरकारी सेवक था, तारीख 13 जनवरी, 1966 को कलक्टर द्वारा पदच्युत कर दिया गया। उसने प्रभागीय आयुक्त को अपील की और तारीख 31 अगस्त, 1966 को उक्त अपील खारिज कर दी गई। अपील की खारिजी का आदेश वादी को तारीख 26 सितंबर, 1966 को संसूचित किया गया। वादी ने तारीख 17 जून, 1969 को सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 80 के अधीन सूचना दी और इस आशय की घोषणा की अपेक्षा करते हुए तारीख 30 सितंबर, 1969 को अपना वाद फाइल किया कि पदच्युति का आदेश अप्रवर्तनशील था और वह सेवा में बना रहा। प्रतिरक्षा पक्ष के इस अभिवाक् की स्वीकृति के आधार पर निचले न्यायालयों में उक्त वाद खारिज कर दिया गया है कि वह उस तारीख से तीन वर्ष के भीतर फाइल नहीं किया गया था, जब सर्वप्रथम वाद-हेतुक उद्‌भूत हुआ, जैसा कि परिसीमा अधिनियम, 1963 की प्रथम अनुसूची के अनुच्छेद 58 के अधीन अपेक्षित है।

3. जब खंड न्यायपीठ के समक्ष यह अपील सुनवाई के लिए प्रस्तुत की गई, तब इस दलील के समर्थन में कि वाद परिसीमा द्वारा वर्जित था, **सीताराम गोयल** बनाम **नगरपालिक बोर्ड कानपुर और अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय का अवलंब लिया गया। खंड न्यायपीठ ने गोयल वाले मामले में किए गए निर्णय का अंश उद्धृत किया, जिसमें यह कहा गया है—

"निस्संदेह परिणाम अपीलार्थी के लिए दुर्भाग्यपूर्ण है, क्योंकि विचारण न्यायालय ने सदोष पदच्युति के उसके अभिवाक् के संबंध में उसके पक्ष में निष्कर्ष

---

1. 1959 एस० सी० आर० 1148.

1989(9) eILR(PAT) SC 1

निकाला था। यदि वह अधिनियम की धारा 326 द्वारा विहित अवधि के भीतर वाद ले आया होता, तो संभवत: उसे न्यायालय से कुछ अनुतोष मिल गया होता। तथापि उसने अपनी अपील पर राज्य सरकार का विनिश्चय होने तक प्रतीक्षा करना उचित समझा और स्वयं अपनी ही हानि करते हुए समय की सीमा का अतिक्रमण किया। हम उस निर्णय से भिन्न कोई अन्य निर्णय निकालने में असमर्थ हैं, जो ऊपर निकाला गया है, और इसलिए अपील खारिज समझी जानी चाहिए; किंतु मामले की असामान्य परिस्थितियों को देखते हुए, हम खर्चों के बारे में कोई आदेश नहीं कर रहे हैं।"

खंड न्यायपीठ ने इस संबंध में यह मत व्यक्त किया :—

"ऐसे दुर्भाग्यपूर्ण परिणामों से बचा जाना चाहिए, यदि ऐसा करना संभव हो। हमारा यह मत है कि सीताराम गोयल वाले मामले में किए गए विनिश्चय पर पुन: विचार किए जाने की आवश्यकता है, जो पांच न्यायाधीशों के न्यायपीठ द्वारा किया गया है······"

(देखें 1983 सप्लीमेंट्री एस० सी० सी० 522)

इस प्रकार यह अपील 7 न्यायाधीशों वाले न्यायपीठ के समक्ष आयी है।

4. वादी को यह घोषणा अभिप्राप्त करने के लिए था कि पदच्युति का आदेश अविधिमान्य था और वह सेवा में बना रहा। ऐसे वाद को निचले न्यायालयों ने ठीक ही परिसीमा अधिनियम की प्रथम अनुसूची का अनुच्छेद 58 लागू किया। उक्त अनुच्छेद इस प्रकार है—

"58. कोई अन्य घोषणा अभिप्राप्त करने के लिए।	तीन वर्ष	जब वाद लाने का अधिकार सर्वप्रथम प्रोद्भूत होता है।"

5. अपीलार्थी के काउंसेल ने हमारे समक्ष अवशिष्टीय अनुच्छेद 113 रखा और उसने कुछ उच्च न्यायालयों के ऐसे कुछ विनिश्चयों के प्रति निर्देश किया है, जिनमें यहां जैसी स्थिति में उक्त अनुच्छेद का अवलंब लिया गया। उक्त विनिश्चयों के प्रति निर्देश अनावश्यक है क्योंकि **पीअर्सलेस्ली एंड कंपनी लि०** बनाम **वायलेट ओक्टरलोनी वेंपशेयर और अन्य**[1] (तथा विपर्ययेण) में इस न्यायालय के निर्णय की नजीर के आधार पर यह माना जाना चाहिए कि 1963 के अधिनियम का अनुच्छेद 113, जो पुराने अधिनियम के अनुच्छेद 120 का समरूपी है, साधारण अनुच्छेद है और वह ऐसे वादों को लागू होगा, जिन्हें अनुसूची का कोई अन्य अनुच्छेद लागू नहीं होता।

6. अत: इस अपील का भाग्य इस संबंध में निष्कर्ष पर निर्भर करता है कि वाद चलाने का अधिकार सर्वप्रथम कब प्रोद्भूत हुआ। तीनों ही न्यायालयों ने यह स्थिति स्वीकार की है कि तारीख 13 जनवरी, 1966 को, जब कलक्टर द्वारा पदच्युति का आदेश किया

[1] 1969 (3) एस० सी० आर० 203.

1989(9) eILR(PAT) SC 1

गया, वाद लाने का अधिकार सर्वप्रथम प्रोद्भूत हुआ। स्वीकृततः वाद उक्त तारीख से तीन वर्ष की अवधि के भीतर फाइल नहीं किया गया। अपील तारीख 31 अगस्त, 1966 को खारिज की गई। सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 80 के अधीन सूचना की अध्यपेक्षा का अनुपालन करने के लिए व्यतीत 60 दिन का समय, तीन वर्ष की अवधि के अतिरिक्त, वादी को उपलब्ध था। अतः यदि तारीख की अपीली आदेश की तारीख से गणना की जाती है, तो वाद समय के भीतर होगा।

7. ऊपर निर्दिष्ट गोयल वाले मामले में उच्चतर प्राधिकारी के आदेश में निम्नतर प्राधिकारी के आदेश के विलय के प्रश्न पर विचार किया गया। मामले के इस पहलू का उल्लेख करते हुए, न्या० भगवती ने, जिन्होंने न्यायालय की ओर से निर्णय सुनाया, यह कहा :—

"तथापि, अपीलार्थी के मार्ग में प्रारंभिक कठिनाई यह है कि विभागीय जांचों की, भले ही वे अपीलों या पुनरीक्षण पर विनिश्चयों के रूप में समाप्त हों, नियमित न्यायालय के समक्ष कार्यवाहियों से बराबरी नहीं की जा सकती।"

8. इस संबंध में **उत्तर प्रदेश राज्य** बनाम **मोहम्मद नूह**[1] वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा की गई मताभिव्यक्ति का अवलंब लिया गया, जिसमें यह कहा गया :—

"........विभाग में किसी अधिकारी द्वारा विभागीय जांच पर पारित पदच्युति के आदेश और उसके विरुद्ध अपील को खारिज करते हुए, पंक्ति में ठीक अगले अधिकारी द्वारा पारित आदेश तथा विभाग के अध्यक्ष द्वारा पुनरीक्षण हेतु आवेदन खारिज करते हुए पारित आदेश की प्रथम बार के न्यायालय द्वारा सिविल प्रक्रिया संहिता के अधीन सिविल वाद में की गई डिक्रियों और अपील न्यायालय द्वारा उसके विरुद्ध अपील को खारिज करते हुए पारित डिक्री तथा उससे भी उच्चतर न्यायालय द्वारा पुनरीक्षण याचिका को खारिज करते हुए पारित आदेश से, किसी भी औचित्य के साथ बराबरी नहीं की जा सकती........ क्योंकि प्रथम बार के या अपील या पुनरीक्षण पर विभागीय अधिकरण नियमित न्यायालय नहीं हैं, जिनमें विधि में प्रशिक्षित व्यक्ति होते हैं, यद्यपि उनमें न्यायालयों की कुछ बातें हो सकती हैं।"

इस संबंध में न्यायालय ने यह भी कहा—

"अतः न्यायालयों के विनिश्चयों का सादृश्य अपीलार्थी को उपलब्ध नहीं होगा।"

9. आनुकल्पिक रूप से, न्यायालय ने इस प्रश्न पर भी विचार किया कि क्या जब विचारण न्यायालय की डिक्री की पुष्टि करते हुए, अपील न्यायालय की डिक्री की गई, मूल डिक्री प्रवर्तनशील नहीं रह गई थी। न्या० भगवती ने ऊपरनिर्दिष्ट मोहम्मद नूह वाले मामले में किए गए निर्णय के एक अन्य भाग को सानुमोदन उद्धृत किया, जिसमें यह कहा गया :—

"इसके अतिरिक्त, यह सच है कि प्रथम बार के न्यायालय की डिक्री उसके विरुद्ध अपील पर पारित डिक्री में या पुनरीक्षण में पारित आदेश में भी विलीन कही

1 1958 एस० सी० आर० 595.

जा सकती है, किंतु ऐसा केवल कुछ प्रयोजनों के लिए ही होता है, अर्थात् डिक्री के निष्पादन के लिए परिसीमा की अवधि की संगणना करने के प्रयोजन के लिए, जैसे कि बटुक नाथ **बनाम** मुन्नी देवी (41 इंडियन अपील्स 104) वाले मामले में, या बंधक वाद में अंतिम डिक्री के लिए आवेदन हेतु परिसीमा की अवधि की संगणना करने के लिए, जैसे कि जब्बाद हुसैन **बनाम** गेदन सिंह (53 इंडियन अपील्स 197) वाले मामले में। किंतु जैसा कि जसकरन बैंद **बनाम** पृथीचंद लाल (46 इंडियन अपील्स 52) वाले मामले में प्रिवी कौंसिल का निर्णय सुनाते हुए, सर लारेंस जेनकिंस ने उपदर्शित किया है, विधि की अन्य पद्धतियों के अधीन कुछ भी सिद्धांत क्यों न रहा हो, भारतीय विधि और प्रक्रिया के अधीन, मूल डिक्री अपील के उपस्थापन द्वारा निलंबित नहीं होती और न उसका प्रवर्तन अवरुद्ध ही होता है, जहां अपील पर डिक्री केवल खारिजी की डिक्री है। भारतीय विधि में इस सुझाव को उचित ठहराने वाली कोई चीज नहीं है कि प्रथम बार के न्यायालय या अधिकरण की डिक्री या आदेश केवल अपील या पुनरीक्षण के रूप में सभी कार्यवाहियों की समाप्ति पर ही अंतिम होता है। अपील या पुनरीक्षण के फाइल किए जाने से डिक्री या आदेश संकट में पड़ सकता है। किंतु जब तक उसे उलटा नहीं जाता है या उपांतरित नहीं किया जाता है, तब तक वह प्रभावी रहता है।"

इसके पश्चात् न्या० भगवती ने यह कहा :—

"इस प्रकार चूंकि मूल डिक्री प्रवर्तनशील रहती है, अतः वस्तुतः हमारा संबंध सुसंगत कानून में विहित परिसीमा की अवधि के प्रारंभ से है और यदि कानून में यह विहित किया गया है कि वह वाद-हेतुक के प्रोद्भवन की तारीख से आरंभ होती है, तो उसे लागू करने की प्रकट असाम्या के बावजूद इन शब्दों से पीछे नहीं हटा जा सकता है।"

10. ऊपरनिर्दिष्ट मोहम्मद नूह वाले मामले में विचारार्थ प्रश्न यह था कि क्या उच्च न्यायालय के समक्ष संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन कार्यवाहियों में आक्षेपित आदेश संविधान से पूर्व आदेश था और इसलिए उच्च न्यायालय अपनी अधिकारिता का प्रयोग नहीं कर सकता था या वह संविधान के प्रारंभ पर लंबित आदेश था और पुनरीक्षण-आदेश संविधान के प्रवृत्त होने के पश्चात् किए जाने के कारण, रिट याचिका चलने योग्य होगी। अधिसंख्य न्यायाधीश और न्या० बोस भी, जिन्होंने अन्यथा मतभेद व्यक्त किया, इस बात पर सहमत थे कि संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन अधिकारिता भूतलक्षी (प्रभाव वाली) नहीं थी। तथापि बहुमत की यह राय थी कि यह कहना सही नहीं होगा कि तारीख 20 अप्रैल, 1948 को किया गया खारिजी का आदेश तारीख 7 मई, 1949 के अपीली आदेश में विलीन हो गया और दोनों आदेश सम्यक् अनुक्रम में तारीख 22 अप्रैल, 1950 के पुनरीक्षण आदेश में विलीन हो गए। खारिजी का मूल आदेश स्वयं अपने ही बल पर प्रवर्तनशील था। तथापि न्या० बोस ने यह मत व्यक्त किया—

"मैं इस बात का कोई कारण नहीं देखता कि उन पर कोई संकुचित या अतितकनीकी निर्बंधन क्यों अधिरोपित किए जाने जाए चाहिए। मेरी राय में, हमारे

1989(9) eILR(PAT) SC 1

न्यायालयों में सामान्य बोध की उदारतापूर्ण रीति में न्याय का प्रशासन किया जाता और वह मानवी मूल्यों पर व्यापक रूप से आधारित होना चाहिए, न कि बाल की खाल निकालने वाली बारीकियों से युक्त संकीर्ण और निर्बंधित विचारणाओं पर··· अंतिम आदेश संविधान के प्रारंभ के पश्चात् तारीख 22 अप्रैल, 1950 को पारित किया गया था। यह सच है कि यदि वह संविधान के तारीख 26 जनवरी, 1950 को प्रवृत्त होने से पूर्व पारित किया जाता, तो याची को न्यायालयों में कोई उपचार उपलब्ध नहीं होता किंतु संविधान ने इस देश में नई जान फूंक दी और ऐसे बहुमूल्य अधिकार और विशेषाधिकार प्रदत्त किये, जो पहले अस्तित्व में नहीं थे। उन्हें संकीर्ण दृष्टि से क्यों देखा जाना चाहिए। ऐसी चीज का, जो उस स्थिति में वर्तमान प्रयोजन के लिए अब भी लंबित मानी जाती, यदि सब कुछ संविधान के प्रारंभ के पश्चात् किया जाता, किसी भिन्न रीति में अर्थान्वियन क्यों नहीं किया जाना चाहिए जब अंतिम कृत्य, जो इन प्रयोजनों के लिए विनिश्चायक कृत्य है, उसके पश्चात् किया गया था।"

अतः ऊपरनिर्दिष्ट मोहम्मद नूह वाले मामले में समस्या गोयल वाले मामले में विचारार्थ समस्या से भिन्न थी।

11. **मदन गोपाल रूंगटा बनाम सचिव, उड़ीसा सरकार**[1] वाले मामले में इस न्यायायल के संविधान पीठ ने उच्च न्यायालय के इस निष्कर्ष की शुद्धता पर विचार किया कि उसे संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन याचिका ग्रहण करने की अधिकारिता प्राप्त नहीं थी क्योंकि पुनरीक्षण आदेश भारत सरकार का था, जो उसकी प्रादेशिक अधिकारिता की परिधि से बाहर स्थित है। मोहम्मद नूह वाले मामले में किए गए निर्णय पर ऊपरनिर्दिष्ट रूंगटा वाले मामले में विचार किया गया और यह कहा गया —

> "हमारी यह राय है कि मोहम्मद नूर वाले मामले का सिद्धांत वर्तमान मामले की परिस्थितियों को लागू नहीं हो सकता। उक्त मामले में यह प्रश्न था कि क्या उच्च न्यायालय खारिजी की बाबत अनुच्छेद 226 के अधीन रिट जारी कर सकता था, जो 1948 से प्रभावी थी, केवल इस कारण कि खारिजी के आदेश के विरुद्ध पुनरीक्षण राज्य सरकार द्वारा संविधान के प्रवृत्त होने के पश्चात् अप्रैल, 1950 में खारिज किया गया था। इन्हीं परिस्थितियों में, इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि (चूंकि) खारिजी 1948 में की गई थी, अतः वह संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन आवेदन की विषय वस्तु नहीं हो सकती थी, क्योंकि ऐसा करने का अर्थ उक्त अनुच्छेद को भूतलक्षी प्रभाव देना होता। इस तर्क को कि खारिजी का आदेश, उसके विरुद्ध अपील में पारित आदेश में और पुनरीक्षण के अंतिम आदेश में विलीन हो गया, इस न्यायालय द्वारा दो आधारों पर अस्वीकार कर दिया गया। प्रथमतः, यह अभिनिर्धारित किया गया कि न्यायालयों की डिक्रियों को लागू विलय का सिद्धांत विभागीय अधिकरणों के आदेशों को लागू नहीं होगा और दूसरे, खारिजी का मूल आदेश स्वयं अपने ही बल पर प्रवर्तनशील होगा और अपील या पुनरीक्षण

---

[1] 1962 सप्ली० 3 एस० सी० आर० 906

1989(9) eILR(PAT) SC 1

की खारिजी के पश्चात्‌वर्ती आदेश से उसकी प्रभावकारिता बढ़ नहीं जाती है, और इसलिए खारिजी के आदेश के संविधान के प्रारंभ से पूर्व पारित किए जाने के कारण उसे संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन चुनौती नहीं दी जा सकती है। हमारी यह राय है कि मोहम्मद नूह वाले मामले के तथ्य विशेष प्रकार के थे और उक्त मामले में दिया गया तर्क वर्तमान मामले के तथ्यों को लागू नहीं होता है।''

ऊपरनिर्दिष्ट रूंगटा वाले मामले में न्या० वांचू द्वारा व्यक्त किए गए मत को हमारा अनुमोदन प्राप्त है। रूंगटा वाले मामले में इस न्यायालय में अंतिम रूप से यह अभिनिर्धारित किया कि राज्य सरकार का आदेश केंद्रीय सरकार के आदेश में विलीन हो गया था और इस उच्च न्यायालय का यह मत सही था कि उसे कोई अधिकारिता प्राप्त नहीं थी।

12. इस न्यायालय के संविधान न्यायपीठ का अगला विनिश्चय **सीमा-शुल्क कलक्टर, कलकत्ता** बनाम **ईस्ट इंडिया कमर्शियल कंपनी लि०**[2] वाले मामले में किया गया विनिश्चय है, जिसमें इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया—

''अतः घूम-फिरकर यही प्रश्न उठता है कि क्या मूल प्राधिकारी का आदेश अपील प्राधिकारी के आदेश में विलीन हो जाता है, वहां भी, जहां अपील प्राधिकारी मूल प्राधिकारी के आदेश के किसी उपांतरण के बिना अपील को खारिज मात्र करता है। यह स्पष्ट है कि जब अपील की जाती है, तब अपील प्राधिकारी निम्नलिखित तीन बातों में से कोई एक बात कर सकता है, अर्थात् (i) वह अपीलाधीन आदेश को उलट सकता है; (ii) वह उस आदेश को उपांतरित कर सकता है; और (iii) केवल अपील को खारिज कर सकता है और इस प्रकार किसी उपांतरण के बिना आदेश की पुष्टि कर सकता है। इस बात के बारे में कोई विवाद नहीं है कि प्रथम दो दशाओं (मामलों) में, जिनमें मूल प्राधिकारी का आदेश उलट दिया जाता है या उपांतरित कर दिया जाता है, अपील प्राधिकारी का आदेश ही प्रवर्तनशील आदेश रहता है और यदि उच्च न्यायालय को अपील प्राधिकारी को रिट जारी करने की कोई अधिकारिता प्राप्त नहीं है, तो वह मूल प्राधिकारी को रिट जारी नहीं कर सकता। अतः प्रश्न यह है कि क्या इन दोनों मामलों और तृतीय मामले में कोई अंतर है, जिसमें अपील प्राधिकारी अपील को खारिज कर देता है और इस प्रकार मूल प्राधिकारी के आदेश की पुष्टि कर देता है। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्धांत के आधार पर अपील प्राधिकारी द्वारा पारित प्रथम दो आदेशों और उसके द्वारा पारित तृतीय प्रकार के आदेश के बीच कोई अंतर करना कठिन है। इन तीनों मामलों में अपील प्राधिकारी द्वारा अपील का निपटारा किए जाने के पश्चात्, प्रवर्तनशील आदेश अपील प्राधिकारी का आदेश होता है, भले ही उसने मूल आदेश को उलट दिया है या उसको उपांतरित किया है या उसकी पुष्टि की है। विधि की दृष्टि में पुष्टि का अपील आदेश प्रवर्तनशील आदेश के रूप में उतना ही प्रभावकारी है, जितना उलट दिए जाने या उपांतरण का अपीली आदेश।''

13. **सोमनाथ साहू** बनाम **उड़ीसा राज्य और अन्य**[2] वाले माकले में तीन

[1] 1963 2) एस० सी० आर० 563.

[2] 1969 (3) एस० सी० सी० 384.

न्यायाधीशों के न्यायपीठ द्वारा किया गया विनिश्चय ऊपरनिर्दिष्ट संविधान पीठ के निर्णयों द्वारा यथास्वीकृत स्थिति के समर्थन में नजीर है । उक्त मामले में, सेवा विवाद के प्रकरण में यह अभिनिर्धारित किया गया कि मूल आदेश राज्य सरकार के अपीली आदेश में विलीन हो गया और अपीली विनिश्चय ही शेष रहा और विधि की दृष्टि में प्रवर्तनशील हुआ तथा वह प्रवर्तन में किए जाने योग्य था । उक्त निर्णय में इस मत के समर्थन में इस न्यायालय का **आय कर आयुक्त बनाम अमृत लाल भोगी लाल एंड कंपनी**[1] वाले मामले में किए गए एक अन्य विनिश्चय का अवलंब लिया गया ।

14. ऊपरनिर्दिष्ट मोहम्मद नूह वाले मामले में न्यायालय और अधिकरण, जो अपील या पुनरीक्षण प्राधिकरण है, के बीच अपनाया गया अंतर किसी विधिक औचित्य के बिना है । न्यायनिर्णयन की शक्तियां, जो सामान्यतया न्यायालयों में निहित हैं, विधि के अधीन अधिकरणों और अन्य गठित प्राधिकरणों द्वारा प्रयुक्त की जा रही हैं । वस्तुतः अनेक विवादों की बाबत अब न्यायालय की अधिकारिता वर्जित है और अधिकरणों तथा प्राधिकरणों में अधिकारिता निहित की गई है । ऐसी स्थिति में, हम विलय के सिद्धांत के संबंध में न्यायालयों और अधिकरणों के बीच अंतर के लिए कोई औचित्य नहीं देखते । ऊपर उपदर्शित नजीरों के आधार पर, यह अभिनिर्धारित किया ही जाना चाहिए कि कलक्टर द्वारा किया गया पदच्युति का आदेश प्रभागीय आयुक्त के आदेश में विलीन हो गया, जब अपीलार्थी की अपील तारीख 21 अगस्त, 1966 को खारिज कर दी गई ।

15. अनेक राज्यों में सरकारी सेवकों के आचरण-नियमों में यह अपेक्षा की गई है कि न्यायालयों में अनुशासनिक आदेशों को चुनौती दिए जाने से पूर्व प्रशासनिक उपचारों को निश्शेष (समाप्त) कर लिया जाना चाहिए । प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम, 1985 की धारा 20 (1) में यह उपबंध किया गया है—

> "20 (1) कोई अधिकरण सामान्यतया कोई आवेदन ग्रहण नहीं करेगा जब तक कि उसका यह समाधान नहीं हो जाता कि आवेदक ने ऐसी शिकायतों को दूर कराने के संबंध में सुसंगत सेवा-नियमों के अधीन उसे उपलब्ध सभी उपचारों का उपयोग कर लिया है ।"

16. अनुशासनिक कार्यवाहियों से संबंधित नियमों में लोक सेवकों पर अधिरोपित दंड के आदेशों के विरुद्ध अपील का उपबंध किया गया है । कुछ नियमों में द्वितीय अपील या पुनरीक्षण का भी उपबंध किया गया है । प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम की धारा 20 का तात्पर्य अनुशासनिक नियमों को प्रभावी बनाना है और तदधीन उपलब्ध उपचारों का निःशेषण (समापन) प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम के अधीन दावों के चलाए जाने के लिए पुरोभाव्य शर्त है । केंद्र के सरकारी सेवकों के लिए प्रशासनिक अधिकरण स्थापित किए गए हैं और अनेक राज्यों ने अपने-अपने कर्मचारियों के लिए अधिनियम के अधीन ऐसे अधिकरण पहले ही स्थापित कर रखे हैं । प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम की धारा 20 के अधीन अधिकथित आधार पर विधि को शीघ्र ही निश्चित रूप दिया जाने वाला है ।

17. इस पृष्ठभूमि में, यदि दंड के मूल आदेश (की तारीख) को ऐसी तारीख के

[1] 1959 एस० सी० आर० 713.

रूप में माना जाता है, जब परिसीमा अधिनियम के अनुच्छेद 58 के प्रयोजन के लिए वाद-हेतुक सर्वप्रथम प्रोद्भूत होता है, तो उसके परिणामस्वरूप बहुत अधिक कठिनाई होगी। एक ओर दावा चलने योग्य नहीं होगा, यदि वह उपचारों के निश्शेषण (समापन) से पूर्व ही किया जाता है; दूसरी ओर, यदि विभागीय उपचार को, यद्यपि उसका उपयोग किया जाता है, परिसीमा की अवधि के भीतर अंतिम रूप नहीं दिया जाता है, तो वाद-हेतुक परिसीमा द्वारा वर्जित हो जाने के कारण न्याय्य नहीं होगा। विभागीय प्राधिकारियों के हाथों शिकायतें दूर कराने में अनुचित रूप से लंबा समय लगता है। ऐसा इस कारण होता है कि इन मामलों पर सामान्यतया कोई ध्यान नहीं दिया जाता है और वे सारभूत सरकारी कारबार नहीं माने जाते हैं। इस दृष्टिकोण की निन्दा की जानी चाहिए और ऐसे प्राधिकारियों को, जिनमें सेवा नियमों के अधीन अपीलों और पुनरीक्षणों का निपटारा करने की शक्ति निहित की गई है, इन मामलों का यथाशीघ्र निपटारा करना चाहिए। सामान्यतया 3 से 6 मास की अवधि बाह्य-सीमा होनी चाहिए। उससे तंत्र में अनुशासन आएगा और लोक सेवक मुकदमेबाजी की लंबी अवधि से बच सकेगा।

18. हमारा यह समाधान हो गया है कि इस स्थिति से निपटने के लिए, जो यहां उद्भूत हुई है, यह अभिनिर्धारित करना उचित होगा कि वाद-हेतुक सर्वप्रथम तब उद्भूत होता है, जब शिकायत दूर कराने के संबंध में सुसंगत सेवा नियमों के अधीन लोक सेवक को उपलब्ध उपचारों का निपटारा हो जाता है।

19. अब विचारार्थ प्रश्न यह है कि क्या यह निपटारा एक अपील का होना चाहिए या अनुतोषों के संपूर्ण अनुक्रम का, जिनका उपबंध किया गया हो। प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम की धारा 20 की उपधारा (2) और (3) के उपबंधों से कानूनी मार्गदर्शन उपलब्ध है। उसमें यह अधिकथित किया गया है—

> "20. अन्य उपचारों के निःशेष हो जाने पर ही आवेदनों का ग्रहण किया जाना—(1) कोई अधिकरण सामान्यतया कोई आवेदन तब तक ग्रहण नहीं करेगा जब तक उसका यह समाधान नहीं हो जाता है कि आवेदक ने ऐसी शिकायतों को दूर कराने के बारे में सुसंगत सेवा नियमों के अधीन उसे उपलब्ध सभी उपचारों का उपयोग कर लिया है।
>
> (2) उपधारा (1) के प्रयोजनों के लिए, किसी व्यक्ति के बारे में—
>
> (क) यदि ऐसी शिकायत के संबंध में ऐसे व्यक्ति द्वारा की गई अपील या किए गए अभ्यावेदन को नामंजूर करते हुए, कोई अंतिम आदेश ऐसी सरकार या ऐसे अन्य प्राधिकारी या अधिकारी या अन्य व्यक्ति द्वारा किया गया है जो ऐसे नियमों के अधीन ऐसा आदेश पारित करने के लिए सक्षम है तो; या
>
> (ख) जहां कोई अंतिम आदेश, ऐसी सरकार या ऐसे अन्य प्राधिकारी या अधिकारी या अन्य व्यक्ति द्वारा नहीं किया गया है जो ऐसे व्यक्ति द्वारा की गई अपील या किए गए अभ्यावेदन की बाबत ऐसा आदेश पारित करने के

लिए सक्षम है वहां यदि ऐसी तारीख से, जिसको ऐसी अपील की गई थी या ऐसा अभ्यावेदन किया गया था, छह मास की अवधि समाप्त हो गई है तो;

यह समझा जाएगा कि उसने शिकायत दूर कराने के बारे में सुसंगत सेवा नियमों के अधीन उसे उपलब्ध सभी उपचारों का उपयोग कर लिया है।

(3) उपधारा (1) और उपधारा (2) के प्रयोजनों के लिए, यदि राष्ट्रपति या किसी राज्य के राज्यपाल या किसी अन्य कृत्यकारी को कोई अभ्यावेदन प्रस्तुत करने के लिए कोई उपचार किसी आवेदक को उपलब्ध है तो वह उपचार उपलब्ध उपचारों में का उपचार तब तक नहीं समझा जाएगा जब तक आवेदक ऐसा अभ्यावेदन प्रस्तुत करने का चयन नहीं करता है।"

20. हमारा यह मत है कि वाद-हेतुक, मूल प्रतिकूल आदेश की तारीख से नहीं, बल्कि उस तारीख से उद्भूत माना जाएगा, जब उच्चतर प्राधिकारी का आदेश किया गया था, जहां अपील या अभ्यावेदन को ग्रहण करने हेतु कानूनी उपचार का उपबंध किया जाता है, और जहां ऐसा कोई आदेश नहीं किया जाता है, यद्यपि उपचार का उपयोग कर लिया गया है, अपील करने या अभ्यावेदन करने की तारीख से 6 मास की अवधि ऐसी तारीख मानी जाएगी, जब वाद-हेतुक सर्वप्रथम उद्भूत हुआ माना जाएगा। तथापि हम यह स्पष्ट कर रहे हैं कि यह सिद्धांत उस स्थिति में लागू नहीं होगा, जब उस उपचार का, जिसका उपयोग कर लिया गया है, विधि द्वारा उपबंध नहीं किया गया है। ऐसे बार-बार असफल रहने वाले अभ्यावेदनों को, जिनका विधि द्वारा उपबंध नहीं किया गया है, यह सिद्धांत लागू नहीं होता है।

21. इस संबंध में प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम के धारा 21 के अधीन परिसीमा से संबंधित उपबंध की अपेक्षा करना उचित होगा। उपधारा (1) द्वारा आवेदन करने के लिए एक वर्ष की अवधि विहित की गई है और 6 मास की कुल अवधि के विलंब को माफ करने की शक्ति उपधारा (3) के अधीन निहित की गई है। अधिनियम द्वारा सिविल न्यायालय की अधिकारिता वापस ले ली गई है और इसलिए जहां तक सरकारी सेवकों का संबंध है, विशेष परिसीमा को देखते हुए, अनुच्छेद 58 का अवलंब नहीं लिया जा सकेगा। तथापि प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम की परिधि से बाहर के वादों को अनुच्छेद 58 लागू होता रहेगा।

22. यह उचित ही है कि ऐसे मामलों में स्थिति एक जैसी होनी चाहिए। अतः ऐसे प्रत्येक मामले में, जब तक कि विधि द्वारा उपबंधित अपील या अभ्यावेदन का निपटारा नहीं किया जाता है, वाद-हेतुक सर्वप्रथम तभी प्रोद्भूत होगा जब उच्चतर प्राधिकारी/प्राधिकरण अपील या अभ्यावेदन पर अपना आदेश करता है, और जहां ऐसा आदेश नहीं किया जाता है, उस तारीख से 6 मास की समाप्ति पर प्रोद्भूत होगा, जब अपील फाइल की गई थी या अभ्यावेदन किया गया था परिसीमा नियत करने के मामले में, स्थापन के अध्यक्ष को स्मरण पत्र या अभ्यावेदन के प्रस्तुतीकरण मात्र पर विचारार्थ ध्यान नहीं दिया जाएगा।

1989(9) eILR(PAT) SC 1

23. हमने जो कुछ ऊपर कहा है उसे देखते हुए, यह माना जाना चाहिए कि ऊपरनिर्दिष्ट गोयल वाले मामले में सही विनिश्चय नहीं किया गया है।

24. अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल ने **रघुवीर झा बनाम बिहार राज्य और अन्य**[1] वाले मामले में दो न्यायाधीशों के न्यायपीठ द्वारा अभी हाल ही में किए गए विनिश्चय का अवलंब लिया। उसमें निकाला गया निष्कर्ष हमने जो कुछ अभिनिर्धारित किया है उसके अनुरूप है किंतु विधिक स्थिति के प्रति न तो कोई निर्देश ही किया गया और न उस पर विचार ही किया गया। उक्त निर्णय के प्रति और आगे निर्देश अनावश्यक है।

25. अब हम वर्तमान अपील के तथ्यों पर आते हैं। चूंकि दावा परिसीमा के अभिवाक् पर खारिज नहीं किया गया है और हमारा यह निष्कर्ष है कि वाद समय के अंतर्गत था, अतः विचारण न्यायालय, प्रथम अपील न्यायालय और उच्च न्यायालय के निर्णय अपास्त किए जाते हैं और मामला विधि के अनुसार निपटारा किए जाने के लिए विचारण न्यायालय को प्रतिप्रेषित किया जाता है। वाद की खारिजी और हमारे प्रतिप्रेषण के आदेश के बीच लंबी अवधि का अंतराल हो चुका है। अतः हम विद्वान् विचारण न्यायाधीश को यह सुनिश्चित करने के लिए विधि में पुनः उपलब्ध सभी प्रभावी कदम उठाने के लिए निदेश करते हैं कि वाद का तारीख 15 दिसंबर, 1989 से पूर्व अंतिम रूप से निपटारा कर दिया जाता है। खर्चों के बारे में कोई आदेश नहीं किया जा रहा है।

अपील मंजूर की गई और मामला प्रतिप्रेषित किया गया

मं०

---

[1] 1986 सप्ली० एस० सी० सी० 372.